

इकाई 1 भारत में पूर्व आधुनिक सामाजिक-धार्मिक और राजनीतिक चिंतन: विविध दृष्टिकोण

इकाई की रूपरेखा

- 1.1 प्रस्तावना
- 1.2 प्राचीन भारत में राज्य और संप्रभुता
- 1.3 मध्यकालीन भारत में राज्य और संप्रभुता
- 1.4 धर्म और राज्यव्यवस्था
- 1.5 सारांश
- 1.6 अभ्यास प्रश्न

1.1 प्रस्तावना

आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिंतन (विचारधारा) को समझने के लिए उन ऐतिहासिक प्रक्रियाओं की व्यापक जानकारी प्राप्त करना आवश्यक है जिनके माध्यम से आधुनिक राज्यव्यवस्था (polity) का उदय हुआ है। हमारे पास ऐसी सभ्यता है जिसकी तुलना यूनान की सभ्यता से की जा सकती है। जिस प्रकार प्लेटो और अरस्तू को पश्चिमी राजनीतिक परम्परा का अग्रणी समझा जाता है, उसी भाँति शासनकला (statecraft) पर हमारे प्राचीन और मध्यकालीन ग्रंथों को अग्रणी माना जाता है। चाहे यह राजतंत्र (monarchy), गणतंत्रवाद (republicanism), मंत्रिपरिषद् (council of ministers); कल्याणकारी राज्य (welfare state), कूटनीति, गुप्तचर व्यवस्था हो अथवा कोई अन्य राजनीतिक अवधारणा इन सभी का उल्लेख हमारे प्राचीन ग्रंथों में मिलता है। राज्य, समाज और शासन परस्पर जुड़े हुए हैं। यदि हम अपने अतीत को देखते हैं तो हमें पता चलता है कि एक ऐसा समय भी था जब लोग नातेदारी संबंधों पर आधारित छोटे-छोटे समूहों में रहते थे और लोगों के जीवन पर नियंत्रण करने के लिए किसी सत्ता की कोई आवश्यकता महसूस नहीं हुई। परन्तु जनसंख्या बढ़ने और लोगों के विभिन्न समूहों में संघर्ष बढ़ने के साथ ही, शासक की आवश्यकता अनुभव की गई जो अपने लोगों को आवश्यक संरक्षण दे सकता था और जिसके आदेश का सभी पालन कर सकते थे। लोगों के समूहों के एक साथ आ जाने से, समाज अस्तित्व में आया और फिर राज्य और शासन कला का उदय हुआ। इस तरह हम कह सकते हैं कि व्यक्ति की आवश्यकताओं से समाज का अभ्युदय हुआ। यही कारण है कि समाज की सामूहिक आवश्यकताओं ने राज्य और शासन से जुड़ी विभिन्न संरचनाओं (structures) और सिद्धान्तों को जन्म दिया। इस प्रकार सामाजिक-ऐतिहासिक संदर्भ राज्य और शासनकला से संबंधित विचारों के आविर्भाव में एक निर्धारक कारक (determinant factor) बन गया। इसका ध्यान रखते हुए जब हम अपने अतीत पर दृष्टिपात करते हैं तो हम पाते हैं कि वैदिक समाज से ब्रिटिश शासन स्थापित होने तक भारत विभिन्न चरणों से गुजरा है और इसने विभिन्न राजनीतिक प्रयोग देखे हैं। किसी न किसी तरह इन परम्पराओं और प्रयोगों ने उस चिंतन के निर्माण में योगदान दिया है जिसे हम आधुनिक भारतीय चिंतन कहते हैं। इस इकाई में इन सभी घटनाओं पर प्रकाश डालना संभव नहीं है। अतः इस इकाई में हमारा प्रयास आपको पूर्व आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिंतन की प्रमुख प्रवृत्तियों (trends) से परिचित कराना होगा। मनुस्मृति, अर्थशास्त्र, फतवा-ए-जहांदारी, आइने अकबरी जैसे ऐतिहासिक ग्रंथों की सहायता से, जिन्हें शासन कला की महत्वपूर्ण पुस्तकें कहा जाता है, हम भारतीय राजनीतिक चिंतन के विकास को स्पष्ट करने का प्रयास करेंगे। प्रथम भाग में हम ब्राह्मणवादी, बौद्ध और जैन साहित्य

पर आधारित परम्परा से, फिर इस्लामी राजनीतिक परम्परा और अंत में भारत में धर्म और राज्य के बीच संबंध से आपको परिचित कराएँगे।

1.2 प्राचीन भारत में राज्य और संप्रभुता

मध्य प्रथम सहस्राब्दी ई.पू. (mid-first millenium B.C.) में सामाजिक संरचनाओं (social formation) पर रोमिला थापर ने वंश परम्परा समाज (lineage society) से लेकर राज्य के संक्रमण (आर. थापर, *हिस्ट्री एण्ड बियॉड*, (*History and Beyond*) निबंध संग्रह) का वर्णन किया है। वंशपरम्परा समाज में मूल इकाई एक विस्तारित परिवार था जिस पर परिवार के सबसे बड़े सदस्य का नियंत्रण था। परिवार का आकार अर्थव्यवस्था और पर्यावरण पर निर्भर था और ये वंश संबंध (genealogical relations) ही थे जो परिवारों को एक साथ जोड़ते थे। सगोत्रों (नातेदारों) और धनसंपदा के कारण शासक और शासित के बीच समाज में अंतर आया। यद्यपि पशुचारक अर्थव्यवस्था से कृषक अर्थव्यवस्था में परिवर्तन, जनसंख्या वृद्धि, सामाजिक और सांस्कृतिक विषमता और अन्य कारकों ने राज्य व्यवस्थाओं (state systems) को जन्म दिया। रोमिला थापर के विचार में विजय, विस्तृत व्यापार, राजनीतिक विशिष्ट वर्ग (political elite) के पतन और राजनीतिक प्रक्रियाओं ने राज्य व्यवस्था में परिवर्तन किया। वैदिक काल वंशपरम्परा व्यवस्था का प्रतिनिधित्व करता था परन्तु कालांतर में समाज में बढ़ते हुए स्तरीकरण से (stratification) राज्य के निर्माण की प्रवृत्ति का पता चला। राज्य के निर्माण के कारण, राज्य के शासन का मुद्दा समाज का प्रमुख विषय हो गया। महाभारत के शांति पर्व में हम *मत्स्यन्याय* का उल्लेख पाते हैं। यह एक ऐसी दशा थी जिसमें छोटी मछलियाँ बड़ी मछलियों का शिकार बन जाती थीं। यह उदाहरण समाज की उस अराजक स्थिति का है जिसमें कोई सत्ता (शासन) नहीं होती। इस प्रकार के संकट से बचने के लिए लोग कानून प्राप्त करने के लिए सामूहिक रूप से सहमत हो गए और उन सभी ने ईश्वर से प्रार्थना की कि वह उन्हें एक राजा दे ताकि समाज में कानून और व्यवस्था बनी रह सके। यह भी तर्क दिया गया कि किसी भी दैवी शक्ति से आग्रह किए बिना ही लोग एक ऐसा व्यक्ति चुन लें जिसे मानव समाज की रक्षा करने का अधिकार हो। हमें राजा की दैवी उत्पत्ति (Divine Origin of Kingship) और राजशाही के सामाजिक संविदा सिद्धान्त (Social Contract Theory of Kingship) के उल्लेख मिलते हैं। हालाँकि प्राचीन भारतीय चिंतन की रचना करने में धर्ममीमांसक और अलौकिक पर्यावरण (metaphysical environment) का अत्यंत प्रभाव पड़ा, परन्तु प्राचीन भारतीय राज्यव्यवस्था (polity) पर हुए विभिन्न अध्ययन राज्यव्यवस्था के अभ्युदय को एक स्वतंत्र क्षेत्र बताते हैं। चाहे यह राजा की दैवी उत्पत्ति हो अथवा सामाजिक संविदा, हम राजतंत्र को प्रारंभिक भारतीय राज्यव्यवस्था में एक प्रभावशाली शासन के रूप में पाते हैं। महाभारत के शांति पर्व में राज्य के बताए गए सात घटक (अंग) निम्नलिखित हैं:

स्वामी अथवा (संप्रभु)

अमात्य अथवा अधिकारी

जनपद अथवा क्षेत्र

दुर्ग अथवा किला

कोष अथवा खजाना

दंड अथवा सेना

मित्र अथवा मित्र देश

उपर्युक्त सभी राज्य के प्राकृतिक अंग माने जाते हैं। राज्य को एक व्यवस्थित निकाय के रूप में देखा

गया है जिसके सात अंग हैं। स्वामी अथवा राजा को इस संरचना का मुखिया समझा जाता है। राजा के बाद अगला पद अमात्य अथवा मंत्रिपरिषद का है जिसके माध्यम से राजा राज्य पर शासन करता है। जनपद का अर्थ उस क्षेत्र से है जिसमें कृषि भूमि, खान, वन आदि होते हैं। दुर्ग अथवा किले का अर्थ राजधानी की किलेबंदी (चारदीवारी) से है। कोष अथवा खजाना वह स्थान है जहाँ पर एकत्र किया गया राजस्व रखा जाता है। दंड का अर्थ विधि (कानून) अथवा प्राधिकार (सत्ता) की शक्ति से है। मित्र का अर्थ मित्र राज्य (देश) से है। राज्य की इस संरचना को देखने पर पता चलता है कि आधुनिक राज्य से इसकी बहुत कुछ समानता है। मनुस्मृति ने राजनीतिक सत्ता का प्रबल समर्थन किया। मनु का विचार था कि राजनीतिक सत्ता न होने पर समाज में अव्यवस्था फैल जाएगी। राजा का यह कर्तव्य है कि वह समाज में न्याय सुनिश्चित करे और कमजोरों की रक्षा करे। जातियों (वर्णों) की भ्रांति को दूर करने, कमजोरों की रक्षा करने से राजा की शक्ति बढ़ती है और वह पृथ्वी पर (इहलोक में) और मृत्यु के बाद (परलोक में) फलता-फूलता है। (ए. अप्पादोरई की *इंडियन पालिटिकल थिंकिंग* में उल्लिखित मनुस्मृति से)। मनु सामाजिक सोपानक्रम (social hierarchy) और जाति व्यवस्था (वर्ण व्यवस्था) के पक्ष में थे और न्याय पर उनका मत विभिन्न जातियों के भिन्न-भिन्न रिवाजों और प्रथाओं पर आधारित था। उनका मानना था कि यद्यपि राजा को ईश्वर से सत्ता प्राप्त है, फिर भी व्यवहार में उसे ब्राह्मणों से मार्गदर्शन लेना चाहिए। इसके पीछे तर्क था कि ब्राह्मणों के पास ज्ञान है और ज्ञान को शासन करना चाहिए। मनु ने गाँवों, जिलों (जनपदों) और प्रान्तों के अनुसार राज्य की संरचना बताई जो आज के प्रशासन की संरचना से मिलती जुलती है। यदि कोई व्यक्ति इस संगठनात्मक संरचना के पीछे तर्क को देखे तो उसे आसानी से पता चल सकता है कि प्राधिकार (सत्ता) का विकेन्द्रीकरण (decentralisation) का सिद्धान्त इस संगठन के पीछे मार्गदर्शी सिद्धान्त था। उसने विद्वानों और राज्य के अधिकारियों की सभा का भी समर्थन किया ताकि वे राजा को सलाह दे सकें। इससे मनु के जनमत के प्रति सरोकार का पता चलता है। सदस्यों से धर्म के आधार पर सही और निर्भय होकर निर्णय लेने की आशा की जाती थी। गाँव और जिला प्राधिकारियों को स्वतंत्रतापूर्वक कार्य करने का सुझाव दिया जाता था। जब कोई आवश्यकता पड़ती थी तो वे राजा की सहायता ले सकते थे। आम लोगों का कल्याण राजा के प्रमुख उद्देश्यों में एक था। यदि नगरों और प्रान्तों के लोग गरीब हैं, चाहे उन्हें उसकी तुरंत अथवा किसी अन्य के माध्यम से आवश्यकता पड़े तो राजा को चाहिए कि वह अपनी यथास्थिति उनके प्रति अनुकंपा प्रदर्शित करे दुखियों, बेसहारों और बूढ़ों के आंसू पोछकर तथा उन्हें प्रसन्नता प्रदान करने की प्रेरणा देना राजा का कर्तव्य है (महाभारत, शांति पर्व अप्पादोरई की *इंडियन पालिटिकल थिंकिंग* में उल्लिखित)। मनुस्मृति में उल्लिखित राजनीतिक विचारों पर टिप्पणी करते हुए वी. आर. मेहता ने कहा है कि 'यह जानकार आश्चर्य होता है कि भारतीय राजनीतिक चिंतन के अत्यंत आरंभ में, विकेन्द्रीकरण, कल्याणकारी राज्य और जनमत के विचारों को भली-भाँति स्पष्ट किया गया है।' (वी. आर. मेहता, *इंडियन पालिटिकल थॉट*)।

प्राचीन भारतीय राजनीतिक चिंतन के विषय में, कौटिल्य का *अर्थशास्त्र* शासन कला का विस्तृत विवरण प्रदान करता है। विद्वानों का विचार है कि *अर्थशास्त्र* कौटिल्य की कृति नहीं है और कौटिल्य का काल भी इतिहासकारों में बहस का विषय रहा है। यह भी तर्क दिया जाता है कि *अर्थशास्त्र* में बहुत कुछ जोड़ा गया है। सच्चाई कुछ भी हो परन्तु तथ्य यह है कि एक ग्रंथ के रूप में *अर्थशास्त्र* में विभिन्न कार्यों का उल्लेख करने के साथ-साथ राज्य संचालन की विभिन्न विधियों का वर्णन किया गया है। मनु से आगे निकलकर कौटिल्य ने प्रबल राजतंत्र का समर्थन किया परन्तु वह निरंकुश राजतंत्र (absolute monarchy) के विचार के पक्ष में नहीं थे। प्राचीन परम्परा में राजा को ब्राह्मणवादी सत्ता (brahmanial authority) से मार्गदर्शन प्राप्त होता था, राजा को ही सभी विषयों में अंतिम निर्णय लेने का अधिकार था। राजा और उसके परिवार से संबंधित अध्यायों में *अर्थशास्त्र* हमें बताता है कि राजा को अपनी इंद्रियों (senses) पर नियंत्रण करके अपने कर्तव्यों का निर्वहन करना चाहिए,

उसे अपने जीवन की किसी भी भय से सुरक्षा करनी चाहिए और अपने सही सलाहकारों और पुरोहितों के चयन में महत्वपूर्ण भूमिका निभानी चाहिए। नागरिक कानून (Civil Law) पर भी व्यापक चर्चा की गई है जिसमें कारगर प्रशासन के लिए आवश्यक विभिन्न उपायों को स्पष्ट किया गया है। इसके अतिरिक्त उन लोगों के लिए जिन्हें देश के लिए खतरा समझा जाता है दंड विधि (Criminal Law) का उल्लेख किया गया है। कौटिल्य ने अपने मंत्रियों की गतिविधियों और निष्ठा (integrity) के प्रति भी सजग रहने के लिए कहा है तथा साथ ही लोगों की स्वार्थी प्रकृति, प्रशासन में प्रचलित रिश्वत और भ्रष्टाचार के बारे में भी उल्लेख किया है। उन्होंने सुझाव दिया कि पुरस्कार और दंड के माध्यम से राजा को दूसरे के लिए एक ऐसा मानदंड निर्धारित करना चाहिए ताकि लोग उसका पालन कर सकें। उनके विचार में, राजा दूसरों से ऊपर होता है परन्तु 'धर्म' से ऊपर नहीं होता। यहाँ पर धर्म का अर्थ है प्रचलित एवं पवित्र विधि (कानून) का पालन करना और अपनी 'प्रजा' के जीवन और संपत्ति की रक्षा करना। इसे राजा का मूल कर्तव्य समझा गया। मित्र और शत्रु, सेना संगठनों, आंतरिक और बाह्य गतिविधियों पर निगरानी रखने के लिए गुप्तचरों (जासूसों) से संबंधित सुझावों पर भी प्रकाश डाला गया है। हमें बताया जाता है कि सेना को विभाजित नियंत्रण (divided command) में रखा जाता है ताकि विश्वासघात से बचा जा सके। कल्याणकारी राज्य के विचार को अर्थशास्त्र में सुदृढ़ किया गया है। राजा से अपेक्षा की गई है कि वह किसानों को उत्पीड़न से बचाए तथा अनाथों, बूढ़ों और असहायों की देखभाल करे। लोगों का सुख (खुशी) हमेशा राजा की चिंता होनी चाहिए नहीं तो वह लोगों का समर्थन खो सकता है; एक अच्छे राजा को सभी के हित के लिए कल्याणकारी कार्य करने चाहिए। कौटिल्य के अनुसार, "प्रजा की खुशी और उनके कल्याण में ही राजा की खुशी और उसका कल्याण है।" 'राजा उसे ही अच्छा समझेगा जो उसकी प्रजा को अच्छा लगेगा न कि उसे अच्छा समझेगा जो उसे अच्छा लगता है' (अर्थशास्त्र)। अन्य महत्वपूर्ण अवधारणा जो हमें प्राचीन राजनीतिक परम्परा में मिलती है, वह दंड की अवधारणा है। दंड का मूल रूप से अर्थ है बल प्रयोग (coercion) अथवा दंड (punishment)। दंड की आवश्यकता अनुशासन के लिए पड़ती है। राज्य के पवित्र और प्रचलित कानूनों द्वारा निर्धारित किए गए नियत मानकों का पालन यदि कोई व्यक्ति नहीं करता अथवा कोई व्यक्ति किसी ऐसी गतिविधि में संलग्न है जो राज्य के हित के विरुद्ध है तो राजा को अपराधी को दंडित करने का हर अधिकार है। इसी प्रकार नागरिकों को अनुशासित करना राजा का एक महत्वपूर्ण कार्य है। बौद्ध धर्म के वैधानिक साहित्य (Buddhist Canonical literature) में संकेत है कि राजा को सत्य की विधि (Law of Truth) और धर्मपरायणता (righteousness) के अनुसार शासन करना चाहिए; उसे अपने राज्य में किसी प्रकार का गलत कार्य नहीं करने देना चाहिए तथा गरीबों की देखभाल करनी चाहिए। राजा को लोगों का एक चुना हुआ नेता समझा जाता था और उसका प्रमुख कर्तव्य अपनी प्रजा की रक्षा करना और अधर्मियों और गलत कार्य करने वालों को दंडित करना था।

तिरुक्कुराल (Tiru-k-kural) ने दूसरी शताब्दी ई. में तिरुवल्लुवर की रचना की जिसे तमिल साहित्य की एक प्रसिद्ध कृति समझा जाता है। इस ग्रंथ में जीवन के अन्य पक्षों के साथ-साथ, हम राज्यव्यवस्था से जुड़े महत्वपूर्ण विचार पाते हैं। इसमें राज्य के लिए आवश्यक पर्याप्त सेना, परिश्रमी लोगों, प्रचुर भोजन, संसाधनों, बुद्धिमान और सतर्क मंत्रियों, विदेशी शक्तियों के साथ गठबंधन और विश्वसनीय किलेबंदी का उल्लेख है। राजा के गुण और कर्तव्य तथा मंत्रियों के दायित्व राज्य में विभिन्न गतिविधियों पर निगरानी रखने के लिए गुप्तचरों का महत्व, कूटनीति आदि अन्य महत्वपूर्ण विषय हैं जिनका उल्लेख हम तिरुक्कुराल में पाते हैं। 'शासनकला में दुर्बलता की जानकारी प्रकट किए बगैर समर्थन प्राप्त करना है।' (तिरुक्कुराल, अप्पादुराई की इंडियन पालिटिकल थिंकिंग में उद्धृत)।

यद्यपि प्राचीन भारतीय राज्यव्यवस्था में राजतंत्र प्रभावी था, फिर भी साहित्य परम्पराओं में गणतंत्र (republic) का भी उल्लेख मिलता है। महान सिकंदर के 327-324 ई.पू. में भारत पर आक्रमण से, हमें

भारत के संबंध में यूनानी और रोमन विवरण से कुलीनतंत्रों (oligarchies) द्वारा शासित कई स्थानों का उल्लेख मिलता है। बाद में बौद्धपाली धर्मग्रंथ अनेक गणतंत्रों के अस्तित्व के बारे में बताता है जोकि मुख्य रूप से हिमालय की तराई और उत्तर बिहार में थे। इसमें यह भी उल्लेख है कि ये महान साम्राज्यों के सहायक राज्य थे परन्तु ये आंतरिक स्वायत्तता (autonomy) का उपयोग करते थे। इसका उदाहरण शाक्य थे जो आधुनिक नेपाल की सीमाओं पर थे और बुद्ध भी इनसे जुड़े थे। दूसरा ऐसा उदाहरण लिच्छवियों के व्रज्जीय राज्यसंघ (confederacy) का है जिसने महान अजातशत्रु का विरोध किया। स्टीव महल बर्गर ने 'डेमोक्रेसी इन एंशिअंट इंडिया' (प्राचीन भारत में लोकतंत्र) नामक अपने लेख में लिखा है कि प्राचीन भारत में राजतंत्रीय विचार किसी संघ, किसी गाँव अथवा विस्तारित गोत्र (नातेदारी) समूह के स्वशासन से दूसरे दृष्टिकोण से लगातार संघर्ष कर रहे थे, दूसरे शब्दों में समान हितों वाले समान लोगों का कोई समूह। सहकारी स्वशासन के इस दृष्टिकोण ने प्रायः गणतंत्रवाद और यहाँ तक कि लोकतंत्र को भी प्राचीन यूनानी लोकतंत्र के समकक्ष बनाया। विभिन्न विवरणों से छठी और पाँचवीं ई.पू. की अवधि के दौरान हिमालय और गंगा के बीच फैले उत्तर भारत की स्थिति से असंख्य जनपदों का पता चलता है और यही काल भारत में नगरों और शहरों की वृद्धि का काल था। जनपदों में संघ और गण थे जो अपने-अपने क्षेत्रों पर स्वतंत्रतापूर्वक शासन करते थे। ऐसी सभाओं (संघों) के कार्य संचालन का वर्णन ब्राह्मण और बौद्ध साहित्य में मिलता है। पाणिनी विवरण (पाँचवीं ई.पू.) से, हम मतदान के माध्यम से निर्णयन (decision-making) की प्रक्रिया का उल्लेख पाते हैं। बौद्ध साहित्य में मठ संघों (monastic assemblies) से सम्बंधित नियम उनकी सदस्यता तथा उनका कोरम (गणपूर्ति) पाते हैं। यह सभी इस तथ्य की ओर इंगित करते हैं कि राजतंत्रीय शासन की प्रभावशाली प्रवृत्ति होने के बावजूद प्राचीन राजनीतिक परम्परा में लोकतांत्रिक मूल्यों और जनमत का बहुत अधिक सम्मान किया जाता था।

1.3 मध्यकालीन भारत में राज्य और संप्रभुता

भारत में इस्लाम के आगमन और मुस्लिम राजनीतिक सत्ता की स्थापना ने भारतीय राजनीतिक चिंतन में एक विशेष चरण के आरंभ की शुरुआत की। इस्लामी राजनीतिक चिंतन मोहम्मद की शिक्षा और कुरान के कानून की सर्वव्यापकता के इर्द-गिर्द केन्द्रित है। वेदांत दर्शन के विपरीत मुस्लिम कुरान को एकमात्र और अंतिम सत्ता मानते हैं। इस्लाम के आगमन से पहले भारत की राजनीतिक संरचना केवल एक ग्रंथ के दर्शन और विश्वास पर आधारित नहीं थी बल्कि विभिन्न धार्मिक परम्पराओं ने प्राचीन भारत में राजनीतिक परम्पराओं के विकास में योगदान किया। इस्लामी चिंतन, कुरान पर आधारित शरियत को अंतिम सत्ता (अधिकार) समझा जाता है और राज्य का उद्देश्य शरियत को लागू करना है। इस्लाम में शासन के मामलों में मुस्लिम विशिष्ट वर्ग पर राजनीतिक विचारों का बहुत प्रभाव पड़ा। भारत में मुस्लिम शासन के दौरान लिखी गई शासन के भेदों संबंधी दो प्रामाणिक पुस्तकों - फतवा-ए-जहांदारी और आइने अकबरी में हम मध्यकालीन भारत के राजनीतिक चिंतन के प्रभावशाली रुझान के बारे में सोच सकते हैं। फतवा-ए-जहांदारी ख्वाज़ा ज़ियाउद्दीन बरनी द्वारा लिखी गई थी। इस पुस्तक में बरनी ने अपने पूर्व वृत्तांत तारीखे-फिरोज़शाही के आधार पर सल्तनत के राजनीतिक दर्शन पर विचार किया है और वर्णन किया है। कुछ विद्वानों का मत है कि बरनी के विचारों में धार्मिक कट्टरपन का बोध होता है। इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए कि बरनी का संबंध उस काल से है जब इस्लाम भारत में अपने कदम जमा रहा था, हम बरनी के विचारों में इस सीमा को नज़रअन्दाज कर सकते हैं। इस सीमा के अतिरिक्त, मध्यकाल में राजतंत्र से जुड़े बरनी के विचार अत्यंत महत्वपूर्ण हैं। ईश्वर के प्रतिनिधि के रूप में राजा (बाहशाह) को पृथ्वी पर राज्य की सभी शक्तियों और कार्यों का स्रोत समझा जाता है। बरनी का विचार है कि राजा अपने कर्तव्यों का निर्वहन करने के लिए जो भी साधन अपनाता है, वे तब तक सही हैं जब तक उसका लक्ष्य धर्म की सेवा होता है। अगले अनुच्छेद में हम बरनी के उन सुझावों

का अध्ययन करेंगे कि किस प्रकार राज्य के प्रमुख के रूप में राजा को अपने कार्य करने चाहिए।

अल-बरूनी के अनुसार, "किसी भी कार्य अथवा नीति के बारे में निर्णय करने से पहले और इसे लोगों में प्रचारित करने से पहले, यह सुल्तान का कर्तव्य है कि वह इसकी सफलता अथवा असफलता के साथ-साथ उनकी स्थिति पर, धर्म और राज्य पर और सेना पर ध्यानपूर्वक विचार करे।" बरनी के अनुसार बादशाह को अपने राज्य के शासन के लिए स्वयं को इस प्रकार समर्पित कर देना चाहिए कि जिससे वह ईश्वर (अल्लाह) के समीप पहुँच सके। धर्म और राज्य का कल्याण एक अच्छे राज्य का आदर्श होना चाहिए। बादशाह का मार्गदर्शन बुद्धिमान लोगों को करना चाहिए। प्रशासन को चलाने के लिए नौकरशाही की आवश्यकता पड़ती है और बरनी कुलीनतंत्र का समर्थक है। वह प्रशासन में पदक्रम (hierarchy) की बात करता है और सुल्तान और राज्य के लोगों के साथ नौकरशाही के गठन, वर्गीकरण, स्वरूप और संबंध की ओर इशारा करता है। वह अकुलीन (low-born) व्यक्तियों की पदोन्नति का प्रबल रूप से विरोधी है। वह लिखता है "राज दरबार में कुलीन व्यक्तियों से उसका सम्मान बढ़ेगा परन्तु यदि वह अकुलीन लोगों का पक्ष लेता है तो उनसे दोनों दुनिया (इस लोक और परलोक) में उसका अपमान होगा।" उसका मानना है कि सल्तनत दो स्तंभों - प्रशासन और विजय पर आधारित है और सेना पर ये दोनों स्तंभ टिके हुए हैं। वह आंतरिक सुरक्षा और विदेशी संबंधों के बारे में सुल्तान के सरोकार पर बल देता है।

बरनी के अनुसार, शरियत लागू करने के साथ-साथ न्याय प्रदान करना भी सुल्तान का एक अनिवार्य कर्तव्य है। कानून लागू करना और कानून का पालन राजा का प्राथमिक उद्देश्य होना चाहिए। बरनी ने कानून के चार स्रोत बताए हैं: (क) कुरान, (ख) हदीस (हज़रत पैगम्बर की परम्पराएँ), (ग) इज़मा (अनेक मुस्लिम धर्ममीमांसकों के मत और व्यवस्थाएँ) और (घ) कियास (कटौती की सैद्धान्तिक विधि)। इसके लिए उन्होंने ज़वाबित (Zawabit) अथवा राज्य के कानून को राज्य का प्रशासन चलाने में एक महत्वपूर्ण स्रोत बताया। परम्परा इस्लामी कानून के स्वीकृत सिद्धान्तों के अतिरिक्त समाज के बदलते हुए स्वरूप और प्रशासन की बढ़ती हुई जटिलताओं के साथ-साथ, बरनी ने ज़वाबित अथवा राज्य कानूनों का समर्थन किया जिसका आधार धर्मनिरपेक्ष था। राज्य में कानून शरियत के आदेशों के विपरीत नहीं हो सकते और इसका प्राथमिक उद्देश्य विभिन्न विभागों के कार्यों को नियंत्रित करना और निष्ठा (वफादारी) को प्रोत्साहित करना है। बरनी व्यक्तिगत अधिकारों अर्थात् पत्नी, बच्चों, पुराने नौकरों, गुलामों आदि के अधिकारों की मान्यता के बारे में भी बात करता है और वह लोगों के अधिकारों की मान्यता को राज्य का आधार मानता है। दंड को राज्य में अनुशासन बनाए रखने का अनिवार्य साधन माना गया है। बरनी दंड की विभिन्न परिस्थितियों विशेषकर सुल्तान द्वारा दिए जाने वाले दंड का उल्लेख करता है। फतवा-ए-ज़हांदारी के वास्तविक महत्व का इस तथ्य से पता चलता है कि भारतीय संदर्भ में बाहशाही के मूल इस्लामी सिद्धान्तों में किस प्रकार अनेक वर्षों तक परिवर्तन होते रहे। दिल्ली सल्तनत की कार्य प्रणाली और मौजूदा सामाजिक व्यवस्था में बरनी के व्यापक अनुभव उसके राजनीतिक विचारों में दिखाई पड़ते हैं।

शासनकला पर अन्य महत्वपूर्ण ग्रंथ जिसमें भारत में मुगल शासन के दौरान राजनीतिक विचारों की प्रभावशाली प्रवृत्ति को स्पष्ट किया गया है, वह अबुल फज़ल का *आइने अकबरी* है। अबुल फज़ल सोलहवीं शताब्दी में भारत के सर्वाधिक महत्वपूर्ण चिंतकों में एक है। वह एक महान विद्वान था जिसे मुस्लिम और हिन्दू परम्पराओं में ज्ञान के विभिन्न क्षेत्रों में गहरी जानकारी थी। उसने अकबर के विभिन्न राजनीतिक विचारों के निर्माण में योगदान किया था। अबुल फज़ल राजसी शक्ति (royal power) के दैवी स्वरूप के विचार से प्रभावित था। उसने सच्चे बादशाह (राजा) और एक स्वार्थी शासक के बीच भेद बताया। एक सच्चे राजा को अपने बारे में नहीं सोचना चाहिए बल्कि लोगों की भलाई उसका मुख्य उद्देश्य होना चाहिए। उसके लिए एक सच्चा शासक एक पिता की तरह होना चाहिए जो जन कल्याण

के लिए शासन करता है और जिसका मार्गदर्शन ईश्वर (अल्लाह) का कानून करता है। हालाँकि अबुल फज़ल 'राजसत्ता के दैवी प्रकाश' में विश्वास करता था, फिर भी उसने दैवी आदेश संप्रेषित करने के लिए मध्यस्थों (बिचौलियों) हेतु कोई भूमिका नहीं बताई है। अबुल फज़ल का कहना है कि 'राजसत्ता (बादशाहत) अल्लाह से निकलने वाला प्रकाश है और सूर्य की किरण है आधुनिक भाषा में इस प्रकाश को फर्सी इज़ीदी (दैवी प्रकाश) कहते हैं और प्राचीन बोली में इसे कियन ख्वाराह (महान प्रभामंडल - the subline halo) कहते हैं। किसी भी मध्यस्थ की सहायता के बिना इसे अल्लाह बादशाहों के साथ संप्रेषित करता है।' हिन्दू धर्म में ब्राह्मणों की तरह उलेमाओं और मुज़ताहिदों ने बादशाह के लिए प्रथागत कानूनों (customary laws) के एक विशेषज्ञ और व्याख्याकार (दुभाषिए) का काम किया। परन्तु अबुल फज़ल के विचार में मध्यस्थों को धार्मिक और पवित्र कानून की व्याख्या करने की ज़रूरत नहीं है और बादशाह से ही स्वयं पवित्र कानून का आकलन और व्याख्या करने की अपेक्षा की जाती है। अबुल फज़ल आगे लिखता है कि 'चिंतन का समय आता है, और लोग अपनी शिक्षा के पूर्वग्रहों से अलग हो जाते हैं, धार्मिक अंधता के ताने-बाने के सूत्र टूट जाते हैं और आँखें सौहार्द की गरिमा देखती हैं हालाँकि कुछ ज्ञानी होते हैं जो उन कट्टरवादियों के भय से चुप हो जाते हैं जो खून के प्यासे हैं परन्तु इंसानों की तरह दिखाई देते हैं। स्वाभाविक है कि लोग अपने बादशाह की ओर देखेंगे और आशा करेंगे कि वह उनका आध्यात्मिक नेता भी हो क्योंकि बादशाह के पास वह दिव्य बुद्धि है जो और व्यक्तियों के पास नहीं है और वह दिव्य बुद्धि हर उस चीज़ को उसके हृदय से दूर करती है जो विपरीत है। अतः एक बादशाह कभी-कभी अनेक वस्तुओं में सौहार्द का तत्व देखता है। अब इसे आज के युग के राजा के संदर्भ में देखा जा सकता है। वह अब देश का आध्यात्मिक मार्गदर्शक है।' उसके राजनीतिक विचारों के पीछे, यह विश्वास था कि बादशाह को सर्व कल्याण के सिद्धान्तों का पालन करना चाहिए और अपने राजसी कर्तव्य को पूरा करना चाहिए। वह पवित्र कानून के परे भी जा सकता था। यदि प्राचीन राजनीतिक चिंतन से तुलना की जाए, तो यह शासन के मामलों में एक महत्वपूर्ण परिवर्तन था। ग़ैर-मुस्लिमों से एकत्र किए जाने वाले जज़िया और गोहत्या पर लगे प्रतिबंध के माध्यम से अकबर द्वारा जो सुधार लागू किए गए, उनसे नए राजनीतिक सिद्धान्त की भावना का पता चला जिसका उल्लेख आइने अकबरी में मिलता है। अबुल फज़ल मज़बूत केन्द्रीकृत राजतंत्रीय शासन में विश्वास करता था और बेहतर शासन के लिए उसने विभिन्न विभागों में काम के बंटवारे का समर्थन किया। उच्च केन्द्रीकृत नौकरशाही की सहायता से ही मुगल शासक ने पूरे साम्राज्य पर शासन किया। अबुल फज़ल ने समाज को चार सोपानीय व्यवस्था (tier system) में वर्गीकृत किया जिसमें शासक और योद्धा प्रथम श्रेणी में आते थे। दूसरी श्रेणी में विद्वानों, तीसरी श्रेणी में दस्तकारों और व्यापारियों और चौथी श्रेणी में श्रमिकों को रखा गया। हालाँकि यह समतावादी दर्शन पर आधारित नहीं था, परन्तु उसने राज्य के कल्याण के लिए प्रत्येक श्रेणी को महत्व देने की बात कही। इस प्रकार आइने अकबरी से निकलने वाली राजनीतिक सत्ता की तस्वीर एक केन्द्रीकृत राजतंत्र थी और राज्य का नियंत्रणकारी (शासी) सिद्धान्त लोगों की भलाई था।

1.4 धर्म और राज्यव्यवस्था

पूर्व आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिंतन पर चर्चा अधूरी ही रहेगी यदि हम धर्म और राजनीति के बीच संबंध की बात नहीं करते हैं। आइए, धर्म और राजनीति के संबंध में हम गांधी और मौलाना आज़ाद के विचारों से शुरुआत करें। गांधी ने कहा था कि 'जो धर्म और राजनीति के पृथक्करण के बारे में बात करते हैं, वे नहीं जानते हैं कि धर्म क्या है।' यहाँ यह ध्यान देना दिलचस्प होगा कि ये दोनों महान भारतीय चिंतक दो विभिन्न धार्मिक परम्पराओं से संबंध रखते थे परन्तु दोनों का मत था कि धर्म को राजनीति से अलग नहीं किया जा सकता। यह आश्चर्यजनक हो सकता है कि किस प्रकार हम पंथनिरपेक्षता (secularism) का भारतीय राजनीतिक परम्परा के मार्गदर्शी सिद्धान्त के रूप में दावा

करते हैं। यह अत्यंत परस्पर विरोधी है परन्तु यदि हम अपनी विभिन्न धार्मिक परम्पराओं में व्यक्त किए गए राजनीतिक विचारों के आंतरिक अर्थ का ध्यानपूर्वक विश्लेषण करें तो हमें यह स्पष्ट हो जाएगा कि किस प्रकार धर्म और राज्य हमारे राजनीतिक दर्शन में घुले मिले हैं। भारत का इतिहास बताता है कि वर्षों से हमारी अद्भुत सभ्यता है जिसने विभिन्न धार्मिक परम्पराओं को आत्मसात् किया है। प्रत्येक धर्म में, चाहे वह हिन्दू धर्म, बौद्ध धर्म, जैन धर्म, इस्लाम धर्म, सिख धर्म अथवा ईसाई धर्म है, समाज के अभ्युदय और नई घटनाओं के साथ कई मतों का जन्म हुआ है जिनके सर्वशक्तिमान (परमात्मा) के प्रति अपनी निष्ठा व्यक्त करने में मतभेद हैं। परन्तु इन मतभेदों का अर्थ एक धर्म की श्रेष्ठता को दूसरे धर्म की श्रेष्ठता पर थोपना नहीं है। प्रत्येक धर्म नैतिक मूल्यों और एक दूसरे के प्रति तथा अंततः समाज के प्रति कर्तव्य की बात करता है। ईमानदारी, विनम्रता, परमार्थ (selflessness) के गुण और गरीबों के लिए दया आदि का उल्लेख विभिन्न धार्मिक व्यवस्थाओं की शिक्षाओं में निहित है। प्राचीन और मध्यकालीन राज्यव्यवस्था संबंधी भागों में जिनकी हमने इस इकाई में चर्चा की है, आपने देखा होगा कि विभिन्न ग्रंथों द्वारा बताए गए राजपद के मूल सिद्धान्त का लक्ष्य अपनी प्रजा के हितों की देखभाल करना था। धार्मिक आधार पर प्रजा में भेदभाव नहीं किया गया है, हालाँकि कुछ शासक ऐसे भी हुए हैं जो इस सिद्धान्त से पीछे हटे हैं। इस प्रकार के सिद्धान्तों से पीछे हटने को राजतंत्र के मार्गदर्शक सिद्धान्त की बजाए बाधाएँ माना जाना चाहिए। यहाँ डा. एस. राधाकृष्णन् का उल्लेख करना प्रासंगिक होगा जिन्होंने कहा था कि 'भारतीय राज्य की धार्मिक निष्पक्षता को धर्मनिरपेक्षता अथवा नास्तिकता के साथ नहीं उलझाना चाहिए। यहाँ पंथनिरपेक्षता की परिभाषा भारत की प्राचीन धार्मिक परम्परा के अनुसार की गई है। यह व्यक्तिगत विशेषताओं को सामूहिक बुद्धि के लिए अधीन बनाकर नहीं बल्कि एक दूसरे के साथ सौहार्द स्थापित करके आस्तिकों (विश्वासियों) की बंधुता (मैत्रीभाव) का निर्माण करती है। यह मैत्रीभाव अथवा सहयोग एकता में विविधता के सिद्धान्त पर आधारित है जिसमें अकेले ही सृजनात्मकता की विशेषता निहित है।' (एस. राधाकृष्णन्, *रिकवरी ऑफ फेथ*, 1956)। यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि पंथनिरपेक्षता का अर्थ हमारी धार्मिक परम्परा पर आधारित है। जब हम अपने अतीत को देखते हैं तो हम पाते हैं कि ब्राह्मणवादी प्रभुत्व के दिनों में हमारे समाज के एक वर्ग ने मूल सत्य को अनुभव करने के लिए वैकल्पिक मार्गों को खोजना आरंभ कर दिया था और इस खोज के कारण जैन धर्म और बौद्ध धर्म का जन्म हुआ। इसी प्रकार जब इस्लाम भारत में आया तो कुछ लोगों द्वारा इस्लाम को राज्य धर्म बनाने का प्रयास किया गया होगा परन्तु हम पाते हैं कि इस काल में सूफीवाद अथवा अकबर का तौहीदे इलाही (जिसे दीने इलाही भी कहते हैं) अस्तित्व में आया जिसने सर्वमुक्तिवाद (सर्वधर्म समभाव) पर बल दिया। यही काल भक्ति आन्दोलन के उदय के लिए महत्वपूर्ण है। भक्ति मत (doctrine) ने मानव समानता का प्रचार किया जिसे इस्लामी प्रभाव का प्रत्यक्ष प्रभाव माना जाता है। इसने न्याय और समानता पर आधारित एक ऐसे समाज की कल्पना की जिसमें सभी धर्मों के लोग अपने नैतिक और आध्यात्मिक व्यक्तित्व को विकसित करने में सक्षम हो सकें। सूफी आदेशों (विधानों) का सिख गुरुओं की शिक्षाओं पर प्रभाव पड़ा। गुरु नानक के अनुयायियों में हिन्दू और सिख दोनों थे। शिवाजी के बारे में एक मुस्लिम इतिहासकार ने लिखा है कि शिवाजी ने सैन्य अभियान के दौरान मुस्लिमों के विरुद्ध किसी भी अपमानजनक कार्रवाई से बचने का प्रयास किया। 'यदि उसके सैनिकों को कुरान की कोई प्रति मिलती थी तो उसे मुस्लिमों को आदरपूर्वक लौटा दिया जाता था। (मौहम्मद हाशिम खफ्री खान, मुंता खबूल लुबाब, जे. डावसन द्वारा अनुदित, 1960)। हमारी विभिन्न धार्मिक परम्पराओं में ऐसे उल्लेखों की कमी नहीं है जो यह बतलाते हैं कि हमारी विभिन्न परम्पराओं में सहिष्णुता, सर्वधर्म समभाव और मानवता के लिए दया की भावना विद्यमान है। धार्मिक परम्पराओं की इन शिक्षाओं से अपेक्षा की जाती है कि ये शासन का मार्गदर्शी सिद्धान्त बनें। राजधर्म अपनी प्रजा के प्रति राजा के दायित्व के बारे में बहुत अधिक संकेत करता है और बताता है कि राजा प्रजा द्वारा दी गई शक्ति का दुरुपयोग न करे। इस रूपरेखा (ढाँचे) के अंदर ही व्यक्ति को भारत में पंथनिरपेक्ष राज्य का अर्थ खोजने के बजाए धर्म और राज्यव्यवस्था के सह-अस्तित्व की व्याख्या करनी चाहिए।

जब कभी अनेक आधुनिक राजनीतिक चिंतक अपने राजनीतिक दर्शन में धर्म को महत्व देते हैं तो हमें उचित ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में इसके महत्व को समझने का प्रयास करना चाहिए। साथ ही व्यक्ति को अपने मत (sect) के विशेष हित के लिए धार्मिक भावनाओं के दुरुपयोग के बारे में सतर्क रहना चाहिए।

1.5 सारांश

इस इकाई में आरंभ से लेकर आधुनिक काल तक के भारतीय राजनीतिक चिंतन के अभ्युदय पर प्रकाश डाला गया है। हमने राज्य की उत्पत्ति के साथ-साथ विभिन्न ग्रंथों में विस्तार से बताई गई राजा की भूमिका के बारे में चर्चा की है। राजतंत्र निस्संदेह शासन का प्रभावशाली रूप था परन्तु इसमें इसके विभिन्न अंगों की भूमिका के बारे में स्पष्ट रूप से बताया गया है। विभिन्न ग्रंथों में उल्लिखित अफसरशाही, कल्याणकारी राज्य, व्यक्तिगत अधिकारों और जनमत की अवधारणा हमारी प्राचीन परम्पराओं में मौजूद अत्यंत विकसित वैज्ञानिक चिंतन की छाप छोड़ती है। शासन के मामलों में मूल्यों और नैतिकता को व्यक्तिगत रुचियों की अपेक्षा अधिक महत्व दिया गया। राज्य की प्रभावी विचारधारा का लक्ष्य अपने लोगों के हित की रक्षा करना था। सौहार्द को बढ़ाने के लिए राज्य में धार्मिक आदर्शवाद को महत्व दिया गया। इस चर्चा के प्रकाश में अब हम आधुनिक राजनीति के विकास पर विचार-विमर्श करेंगे।

1.6 अभ्यास प्रश्न

- 1) प्राचीन भारत में राजनीतिक चिंतन की प्रमुख विशेषताएँ बताइए।
- 2) मध्यकाल के दौरान संप्रभु सत्ता (राज सत्ता) के संबंध में महत्वपूर्ण विचारों पर चर्चा कीजिए।
- 3) पूर्व आधुनिक भारत में राज्यव्यवस्था को धर्म ने किस प्रकार प्रभावित किया है?